

चुनाव आयोग डाल-डाल तो फर्जीवाड़ा करने वाले पात-पात



पांच राज्यों में चुनाव प्रचार गरमा रहा है। दोनों बड़े दलों और अन्य क्षेत्रीय दलों ने उम्मीदवारों के नामों का ऐलान शुरू कर दिया है। इसके साथ ही चुनाव आयोग की चिंताएं और चुनौतियां बढ़ गई हैं। हर चुनाव में इनका आकार और विकराल हो जाता है। सोशल मीडिया के आधुनिकतम हथियारों के सामने आयोग के पुराने और जंग खाए अस्त्र शस्त्र बेमानी और असहाय नज़र आते हैं। भारत का चुनाव आयोग भरोसे की पूंजी और परम्परागत क्रायदे कानूनों के सहारे हर निर्वाचन में अपनी नैया पार तो लगा लेता है, मगर आने वाले दिन साफ़-साफ़ संकेत दे रहे हैं कि अब आयोग के लिए चुनाव कराना बहुत आसान नहीं होगा। फ़िलवक्त उसने जो क़दम उठाए हैं, वे काग़ज़ों का पेट तो भरते दिखाई देते हैं, स्थाई समाधान तो बहुत दूर है।

पिछले आम चुनाव में चुनाव आयोग ने पेड न्यूज़ तथा अन्य खराबियों को रोकने के लिए ज़िला स्तर से लेकर प्रदेशों की राजधानियों तक मीडिया निगरानी केंद्र बनाए थे। इन केंद्रों में सैकड़ों प्रोफेशनल्स को चौबीस घंटे इस काम में लगाया गया था। ये लोग पंद्रह से बीस चैनलों में प्रसारित समाचारों और विज्ञापनों तथा समाचारपत्रों के इन्हीं श्रेणियों के कॉन्टेंट पर निगरानी रखते थे। जहां भी उन्हें शंका होती थी, वे अपनी रिपोर्ट आयोग को भेज देते थे। दरअसल यह एक ऐसी प्रक्रिया थी, जिसका कोई व्यावहारिक लाभ नहीं हुआ। इस बार भी ये केंद्र चौबीसों घंटे काम कर रहे हैं। पांच राज्यों में अनुमान के मुताबिक करीब ढाई सौ लोग इस काम में लगाए गए हैं। कोई एक करोड़ रुपए के आसपास इन पर हर महीने सिर्फ वेतन के रूप में खर्च हो रहा है। छोटे राज्यों में इस काम में लगे पेशेवरों की संख्या और खर्च का आकार अपेक्षाकृत कुछ कम हो सकता है, पर सच्चाई तो यही है कि काग़ज़ों का पेट भरने के सिवा इनकी कोई उपयोगिता अभी तक सिद्ध नहीं हुई है। अगर इसे ताक़तवर रूप देना है तो चुनाव आयोग को शक्ति संपन्न बनाना होगा और इसकी संकल्प शक्ति राजनीतिक दलों में नहीं दिखाई देती। इसके अलावा प्रत्येक ज़िले में इसी तरह के मीडिया निगरानी केंद्र बनाए गए हैं।

आयोग के सूत्रों का कहना है कि अगर कोई उम्मीदवार खबर के लिए किए भुगतान को अपने प्रचार खर्च में जोड़कर आयोग को प्रस्तुत कर देता है और वह प्रचार की सीमा के भीतर है तो यह कोई अपराध नहीं बनता। यह एक ऐसा कार्य है, जो शिकायत करने पर ही सामने आएगा। आयोग के लिए किसी समाचार का शुल्क तय करने का कोई पैमाना भी नहीं है कि आखिर उसका कितना धन दिया गया है। इसके बाद उस अंदरूनी रिकॉर्ड की जांच होगी। किसी के लिए निजी स्तर पर इस तरह का निगरानी तंत्र बनाना

आसान नहीं है। ज़ाहिर है यह नपुंसक क़वायद साबित हुई है। पिछले चुनाव में कोई अपवाद रहा हो तो अलग बात है अन्यथा परिणाम तो कुछ नहीं निकला।

इधर वॉट्सऐप समूहों के माध्यम से भी विज्ञापन या समाचार प्रायोजित करने की सूचनाएं भी मिलने लगी हैं। विडंबना यह है कि यह प्रायोजन ठीक ठीक विज्ञापन नहीं होता। कभी समाचार की शक्ल में होता है तो कभी इतिहास के कूड़ेदान से निकाला गया कोई बेसिरपैर का शिगूफ़ा। कभी किसी राजनीतिक दल की प्रायोजित जन्मपत्री तो कभी किसी उम्मीदवार का चरित्र हनन करती हुई कोई कहानी। कभी सांप्रदायिक सद्भाव को तार तार करता षडयंत्रकारी लेखन तो कभी बिना विज्ञापन बताए किसी उम्मीदवार का हर घंटे बयान। चुनाव आयोग इस माध्यम के लिए हुए लेन देन का कैसे पता लगाए। वॉट्सऐप के अलावा फ़ेसबुक पर टिप्पणियों, सूचनाओं, चित्रों, पोस्टरों और विडियो में से विज्ञापन या धन के लेनदेन की गंध पता लगाने वाला कौन सा उपकरण चुनाव आयोग के पास है। ट्विटर के ज़रिए रैलियों की जानकारी देना विज्ञापन माना जाए या सूचना ?

फ़ेसबुक मेसेंजर पर फ़र्जी संदेशों और विडियो की भरमार अभी से होने लगी है। आम मतदाता भ्रामक प्रचार का शिकार हो जाता है। कभी कभी तो ऐसी आशंका होती है कि जैसे ही आप भारतीय राजनीतिक इतिहास के किसी ऐसे प्रसंग पर अपनी टिप्पणी दर्ज़ कराते हैं, जिसमें पुराने तथ्यों, प्रतीकों और इतिहास पुरुषों की छवि को विकृत करने की साज़िश दिखाई देती है तो पलक झपकते ही आपके विरोध में बेहद अभद्र और अमर्यादित टिप्पणियों की भरमार हो जाती है। चुनाव आयोग संवैधानिक और स्थापित-प्रमाणित राजनीतिक इतिहास के साथ छेड़छाड़ पर क्या कर सकता है ?

एक गंभीर मुद्दा नोटा का भी है। भारत में नोटा प्रणाली का प्रवेश पिछले चुनाव के दौरान किया गया था, लेकिन इसके कुछ समय बाद ही आयोग ने यह तय किया कि इस नई व्यवस्था का बहुत प्रचार न किया जाए। चुनाव आयोग का मानना था कि लोकतांत्रिक प्रणाली में यह भी अच्छी बात नहीं है कि एक मतदाता उम्मीदवारों के बारे में इस तरह की नकारात्मक धारणा बनाए। इसलिए उस समय सारे चुनाव अधिकारियों को नोटा का प्रचार न सलाह दी गई थी। यहां तक कि भोपाल में एक प्रत्याशी ने अपनी प्रचार सभा में नोटा का सहारा लेने की अपील की थी तो चुनाव आयोग ने उसके खिलाफ एक शिकायत दर्ज़ करके जांच की थी।

चुनाव आयोग का ताज़ा रवैया इसके उलट है। कुछ महीने पहले चुनाव आयोग ने बाकायदा नोटा का प्रचार-प्रसार करने की सलाह दी है। इस दो तरह की राय का असल कारण समझ से परे है। अलबत्ता इसका दुरुपयोग राजनीतिक दल करने लगे हैं। आम तौर पर ज़मीनी पकड़ रखने वाला हर उम्मीदवार चंद रोज़ पहले अनुमान लगा लेता है कि उसकी हार भी हो सकती है। इसलिए जहां उसे अपनी स्थिति कमज़ोर लगती है, वह मतदाताओं से यह प्रार्थना करता है कि भले ही वे उसे वोट न दें, लेकिन उसके प्रतिद्वंद्वी को भी वोट न दें। बेशक वे नोटा पर अपनी मुहर लगा दें। उस पार्टी से नाराज़ वोटर यह सोचते हैं कि वे नोटा करके भी उस उम्मीदवार का समर्थन नहीं कर रहे हैं, जिससे ख़फ़ा हैं। पिछले चुनाव में मध्यप्रदेश के तीन मंत्री हार गए थे। उनकी हार का अंतर नोटा के मतों से कम था। जब चुनाव नतीजों का बारीक विश्लेषण हुआ तो पता लगा कि सामने वाले को नहीं जीतने देने के लिए लोगों से बाकायदा नोटा का इस्तेमाल करने की अपील की गई थी।

एक दिलचस्प आंकड़ा समझने के लिए काफी होगा। मध्यप्रदेश के पिछले चुनाव में करीब साढ़े छह लाख वोट नोटा के पक्ष में पड़े थे। इनमें से लगभग चालीस हजार वोट तो एक ही ज़िले की सात विधानसभाओं के थे। ध्यान दें कि विधान सभा क्षेत्रों में अनेक बार जीत हार हजार-पांच सौ वोटों से भी होती है। अगर सात विधानसभाओं में नोटा का समान वितरण कर दें तो कोई साढ़े पांच-छह हजार नोटा वोट हर विधानसभा के खाते में जाते हैं। ऐसे में कोई भी चुनाव आयोग क्या कर सकता है। भारतीय राजनीति में भी हम नहीं सुधरेंगे वाले अंदाज़ में नेता अपनी अदा दिखाने लगे हैं। पर उनकी अदा पर मतदाता अब रीझने वाला नहीं है।

(राजेश बादल वरिष्ठ पत्रकार हैं व राज्य सभा टीवी के कार्यकारी निदेशक रह चुके हैं)

साभार- <http://www.samachar4media.com> से